ISSN - 2348-2397
APPROVED UGC CARE

SHODH SARITA

SHODH SARITA
Vol. 7, Issue 26, April-June, 2020
Page Nos. 129-132

AN INTERNATIONAL BILINGUAL PEER REVIEWED REFEREED RESEARCH JOURNAL

'असाध्यवीणा' में अज्ञेय का आत्मान्वेषण

डॉ0 अनिल राय*

शोध सारांश

अज्ञेय की प्रतिनिधि कविताओं में 'असाध्यवीणा' एक श्रेष्ठ कविता है जिसकी रचना उन्होंने एक जापानी कथा को आधार बनाकर की है। कविता में असाध्यवीणा असाध्य इसलिए है क्योंकि इसे साधने का प्रयत्न करने वाले स्वयं को कलावंत एवं निपुण वादक समझ बैठते हैं। इसके विपरीत केशकम्बली स्वयं को शिष्य और साधक मानकर अपने 'स्व' को तिरोहित कर देता है। वह अपनी साधना से अपने 'आत्म' को महामौन से एकाकार कर देता है। राज दरबार में रखी गयी वीणा एक असाधारण वीणा है जिसका मूल उद्‌गम किरीटी तरु है। वीणा अपने मूल स्रोत से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। इस असाध्यवीणा को साधने के लिए केशकम्बली को आत्मशोधन एवं आत्मदान की साधना से गुजरना पड़ता है। इस प्रकार साहित्य, संगीत, कला और यहाँ तक कि जीवन को साधने के लिए साधक में आत्मशोधन और आत्मान्वेषण नितांत आवश्यक है। अज्ञेय इसे ही 'अहं का विलयन' कहते हैं, जिसके बिना सृजनात्मकता संभाव्य नहीं होती। उन्होंने 'असाध्यवीणा' में सर्जना की समस्याएँ और उसकी चुनौतियों को एक आख्यान के माध्यम से प्रस्तुत करते की एक सफल कोशिश की है।

Keywords : असाध्यवीणा, किरीटी वृक्ष, महामौन, आत्मशोधन, सर्जना, आत्मान्वेशण, अहं का विलयन।

अज्ञेय ने जितनी भी कविताएँ लिखीं 'असाध्यवीणा' उनमें सर्वाधिक लंबी कविता है। इसकी रचना उन्होंने जून 1961 में की थी। इससे पहले वे 1957–58 में जापान के प्रवास पर रहे। अज्ञेय द्वारा रचित इस वर्णनात्मक कविता का आधार एक जापानी आख्यान है, जिसकी रचना बौद्ध दर्शन के 'जेन' अथवा 'ध्यान संप्रदाय' की विचारधारा के आधार पर हुई है। इसे 'अशब्द संप्रदाय' के नाम से भी भी जाना जाता है। यह भी कहा जाता है कि बौद्ध दर्शन के अन्य सिद्धांतों में तो बुद्ध के उपदेश हैं किंतु इसमें उनका मन अथवा हृदय उपस्थित है। 'असाध्यवीणा' की कथा प्रसिद्ध जापानी साहित्यकार ओकाकुरा की पुस्तक 'द बुक ऑफ टी' में 'टेमिंग ऑफ द हार्प' नामक कथा के नाम से संकलित है। ओकाकुरा ने इसकी रचना 1906 में की थी। जापानी जीवन, वहाँ की प्राचीन संस्कृति एवं पश्चिमी जगत से उसके संबंधों का उद्‌घाटन करने वाली यह पुस्तक जापानी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। चीनी ताओवादी कथा 'टेमिंग ऑफ द हार्प' के अनुसार लूँगामिन खाल में एक विशाल कीरी वृक्ष था। इसी वृक्ष से एक वीणा बनायी गयी थी। चीनी राजा ने इस वीणा को बजाने के लिए अनेक वादकों–कलावंतों को आमंत्रित किया, किंतु इसे बजाने में कोई सफल नहीं हो सका। इस प्रकार पूरे राज्य में यह वीणा असाध्य बन गयी थी। अंत में राजकुमार पीवो इसे साधने को प्रस्तुत हुआ । उसने जैसे ही अपने कोमल हाथों से वीणा के तारों का संस्पर्श किया, वीणा से प्रकृति का मधुर राग फूट पड़ा। जब पीवो ने वीणा के अन्य तारों को छेड़ा तो उनमें से प्रेम और युद्ध आदि जीवन की भिन्न–भिन्न ध्वनियाँ फूटने लगीं। राजकुमार पीवो के वीणा–वादन में विशिष्ट बात यह थी कि उसमें कला के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव था इसलिए वह सफल हो गया। 'असाध्यवीणा' में अज्ञेय ने इसी कथा का भारतीयकरण कर दिया है। देशीकरण की इस प्रक्रिया में कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं दिखायी पड़ती है। कविता का कथानक दोनों संस्कृतियों की सीमा का अतिक्रमण करता हुआ व्यापक मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित होता है। 'असाध्यवीणा' की कथा के अनुसार वज्रकीर्ति ने किरीटी नामक वृक्ष से इस वीणा को विशेष प्रकार से अभिमंत्रित करके निर्मित किया था। जब राजदरबार में उपस्थित सभी वादक और कलावंत इसे बजाने में असमर्थ हो गये–'मेरे हार गये सब जाने माने कलावंत/सबकी विद्या हो गयी अकारथ'[1], तब थक–हारकर राजा द्वारा गुफा में साधनारत केशकम्बली को बुलाया गया।

अज्ञेय इस कविता की शुरुआत ही केशकम्बली के आगमन से करते हैं। शुरुआत बड़े ही नाटकीय ढंग से होती है–

आ गये प्रियंवद ! केशकम्बली ! गुफागेह !

*एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी–विभाग, श्यामलाल कॉलेज सांध्य, दिल्ली विश्वविद्यालय

राजा ने आसन दिया। कहा
'कृतकृत्य हुआ मैं तात ! पधारे आप।
भरोसा है अब मुझको
साध आज मेरे जीवन की पूरी होगी।[2]

केशकम्बली के आगमन पर राजा कृतकृत्य हो जाते हैं, जिसका कारण वीणा का असाध्य होना है। स्पष्ट है कि वीणा के असाध्य होने के कारण राजा निराश हैं किंतु अब उन्हें प्रियंवद पर पूरा भरोसा है। राजा को पता है कि उनके जीवन की सबसे बड़ी साध केशकम्बली द्वारा ही पूरी होगी। राजा इस बात से भी आश्वस्त हैं कि असाध्यवीणा को बनाने में तपस्वी वज्रकीर्ति ने जो साधना की थी वह कभी व्यर्थ नहीं होगी। जब सच्चे साधक के हाथों का संस्पर्श वीणा को मिलेगा तो वह अवश्य बोलेगी–

पर मेरा अब भी है विश्वास
कृच्छ–तप–वज्रकीर्ति का व्यर्थ नहीं था
वीणा बोलेगी अवश्य, पर तभी।
इसे जब सच्चा स्वरसिद्ध गोद में लेगा।[3]

असाध्यवीणा को जब केशकम्बली के समक्ष लाया गया और बजाने का आग्रह किया गया तो सबसे पहले उसने यह बात साफ कर दी कि वह कोई कलावंत या कलाकार नहीं है जो इसे बजाने में निपुण हो। वह तो एक शिष्य और साधक है–'राजन पर मैं तो कलावंत हूँ नहीं, शिष्य साधक हूँ'। केशकम्बली के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रों में पारंगत होने से जीवन और उसके सत्य का संधान नहीं हो सकता, बल्कि साधना और तप से ही इसे प्राप्त किया जा सकता है। जब साधक केशकम्बली के द्वारा वीणा हाथों में धारण की जाती है तब पूरा राजदरबार उत्सुकता पूर्वक स्तब्ध होकर यह दृश्य देखता है। केशकम्बली ने अपना कंबल खोल कर धरा पर बिछा दिया और उस पर वीणा रख दी। अपने नेत्रों को बंदकर उसने अपने मस्तक को वीणा के तारों पर झुका लिया और ध्यानमग्न हो गया। प्रियंवद का ध्यान पूरी तरह किरीटी वृक्ष और उससे निर्मित वीणा पर केंद्रित हो गया। उसका यह ध्यान उसे आत्मशोधन की अतल गहराई में उतारता चला गया–

सभा चकित थी–अरे, प्रियंवद क्या सोता है ?
केशकम्बली अथवा होकर पराभूत
झुक गया वाद्य पर ?
वीणा सचमुच क्या है असाध्य ?
पर उस स्पंदित सन्नाटे में
मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा–
नहीं, स्वयं अपने को शोध रहा था।[4]

केशकम्बली उस विशाल किरीटी वृक्ष से तादात्म्य स्थापित करते हुए वीणा से स्वर–संगीत फूटने की याचना करता है। वीणा बाह्य रूप से भले ही केशकम्बली की गोद में रखी है, वादक को पता है कि वह स्वयं उस वृक्षरूपी परमात्मा की गोद का बालक है–'किंतु मैं ही तो/तेरी गोदी बैठा मोद–भरा बालक हूँ'। असाध्यवीणा से वह एक ऐसे संगीत की याचना करता है जो उसके अँधियारे अंतस् को आलोकित कर सके। वह किरीटी वृक्ष को वीणा का मूल आधार मानता है जो अक्षत और स्वयं में परिपूर्ण है–

तू गा
मेरे अँधियारे अंतस में आलोक जगा
स्मृति का,
श्रुति का–
तू गा, तू गा, तू गा ![5]

केशकम्बली की याचना में उसका संपूर्ण समर्पण विद्यमान है। इसमें साधक के अपने 'स्व' को तिरोहित करने का भाव विद्यमान है। आत्मशोधन की यह साधना ही असाध्यवीणा को साध्य बना सकती है। यही रहस्य है कि समाधिस्थ केशकम्बली की उंगलियों का संस्पर्श प्राप्त करते ही वीणा के तार झनझना उठे–

सहसा वीणा झनझना उठी
संगीतकार की आँखों में ठंडी पिघली ज्वाला–सी
झलक गयी–
रोमांच एक बिजली–सा सबके तन में दौड़ गया
अवतरित हुआ संगीत स्वयम्भू
जिसमें सोता है अखण्ड
ब्रह्म का मौन
अशेष प्रभामय।[6]

असाध्यवीणा से निकलने वाले स्वरों से सभी को अलग–अलग संगीत सुनायी पड़ा। राजा ने जो ध्वनि सुनी उसमें ऐसा लगा मानो यशस्विनी विजयदेवी अपने हाथों में वरमाला धारण किये मांगलिक गीत गा रही हैं। इस मधुर संगीत को सुनकर राजा को ऐसा भी अनुभव हुआ मानो उनका मुकुट शिरीष के फूल की तरह हल्का हो गया हो। रानी को वीणा से अलग तरह की ध्वनियाँ सुनायी पड़ीं–

रानी ने अलग सुना,
छँटती बदली में एक कौंध कह गयी–
तुम्हारे ये मणि माणिक, कंठाहार, पद वस्त्र
मेखला–किंकिणि,
सब अंधकार के कण हैं ये
आलोक एक है
प्यार अनन्य।[7]

राजा के दरबार में रखी गयी वीणा कोई साधारण वीणा नहीं है। किरीटी वृक्ष का प्राणतत्त्व इस वीणा में परिव्याप्त है। किरीटी वृक्ष परमब्रह्म का प्रतीक है, अतः कोई सच्चा साधक ही इससे निर्मित वीणा को साधने में सफल हो सकता है। कविता में किरीटी परमसत्ता का प्रतीक है और वीणा व्यक्तिसत्ता का।

परमसत्ता की उपेक्षा करके व्यक्तिसत्ता का न तो कोई अर्थ है और न ही उसकी मुक्ति संभव है। अज्ञेय की असाध्यवीणा वस्तुतः जीवनरूपी वीणा भी है। इस वीणा को हर व्यक्ति नहीं साध सकता। इसके असाध्य होने के कारण जीवन का परमसत्य राजा के समक्ष अनुद्घाटित है जिसकी पहेली उसे बेचैन कर देती है। अज्ञेय इस कविता के माध्यम से यह संकेत करते हैं कि जीवन–सत्य के जानने का दावा करने वाले शास्त्रज्ञ, विद्वान और पंडित जीवनरूपी वीणा को नहीं साध सकते। इसे साधने के लिए सबसे पहले साधक होना आवश्यक है। साधक को अपना ध्यान वीणा पर केंद्रित करने के बजाय स्वयं पर केंद्रित करना होगा। इस प्रकार अपने 'स्व' के शोधन और परिष्कार के द्वारा ही कोई इस वीणा को साधने में सफल हो सकेगा। प्रसिद्ध आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी असाध्यवीणा को साधने का मूलमंत्र प्रियंवद के आत्मदान को मानते हैं। यही आत्मदान वे 'राम की शक्तिपूजा' के राम की साधना में भी देखते हैं। उनका मानना है कि–''अपने और सबकुछ की तथता का यह दायित्त्व निराला और अज्ञेय को गहरे संवेदनात्मक स्तर पर जोड़ता है। आत्मदान के ही माध्यम से असाध्यवीणा का कलावंत वीणा को साधता है। यही शक्ति और सृजन के रहस्य का साक्षात्कार है। निराला ने अपने लिए कथानक बंगाल में प्रचलित रामकथा से चुना और अज्ञेय ने एक जापानी लोककथा से। अलग–अलग देशकाल में ढली मूर्तियों को इन कलाकारों ने सहज पत्थर मानकर उसके खंडों से फिर नयी रचना की।''[8]

'असाध्यवीणा' में वीणा तभी तक असाध्य रहती है जब तक उसका अस्तित्व चेतन किरीटी तरु से विभक्त है। इसे बजानेवाला जब तक स्वयं को कलावंत समझ कर इसे बजाने का प्रयत्न करता है तब तक उसे सफलता नहीं मिलती। इसके विपरीत जो उस वीणा में किरीटी तरु की उपस्थिति को शाश्वत मानकर उसके प्रति पूर्ण समर्पण का भाव व्यक्त करता है और तत्पश्चात् उसे बजाने का प्रयत्न करता है, वही सफल होता है। वीणा से रानी को जो संगीत–संदेश प्राप्त हुआ उसके अनुसार सभी प्रकार की भौतिक समृद्धियाँ निरर्थक और अज्ञानता से युक्त हैं। ये अंधकार की तरह नश्वर हैं। इन सबसे ऊपर एक ही तत्त्व है, जो दिव्य आलोक का प्रतिरूप है और जिसे 'प्रेम' कहा जाता है–'आलोक एक है/प्यार अनन्य'। जिसने इस परमतत्त्व का संधान कर लिया उसने जीवन के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त कर लिया। असाध्यवीणा के तारों से निकलने वाले स्वरों ने सभा में उपस्थित सभी लोगों को अलग–अलग संदेश दिया। किसी को उनमें सोने से भरी तिजोरी की खनक सुनायी पड़ी तो किसी को मिट्टी के बर्तन में रिंधने वाले भोजन की सोंधी सुगंध का अनुभव हुआ। इस प्रकार वीणा से फूटने वाले स्वरों से सभा के सभी श्रोताओं को अपने–अपने लिए उचित कर्म का संदेश मिला–'डूब गये सब एक साथ/सब अलग–अलग एकाकी पार तिरे।'[9] उनके मन–मस्तिष्क से अज्ञानता का आवरण सदा के लिए उतर गया और उन्हें सत्य का साक्षात्कार हो गया। इस प्रकार साधक केशकम्बली ने 'असाध्यवीणा' में अपनी साधना की शक्ति से यह संदेश देने का उपक्रम किया है कि महाशून्य और विराट ब्रह्म को साधे बिना वीणा को नहीं साधा जा सकता। अपने 'स्व' को उस परमसत्ता के प्रति समर्पित करके ही मनुष्य को मुक्ति और सत्य की प्राप्ति हो सकती है। वीणा के बजते ही सभा में सबका अस्तित्व अलग–अलग दिखायी पड़ा। सभी को वैयक्तिक सत्ता स्वतंत्र रूप में जान पड़ी। अज्ञेय मूलतः व्यक्ति–स्वातंत्र्य के कवि हैं जिसका पूरा प्रभाव 'असाध्यवीणा' में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जैसे ही वीणा का संगीत समाप्त हुआ, केशकम्बली के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए राजा सिंहासन से उठ गये। रानी प्रसन्न होकर सप्त लड़ियों वाली माला प्रियंवद को पुरस्कार स्वरूप देने के लिए प्रस्तुत हुईं। सभा में चारों ओर प्रियंवद की जय–जयकार होने लगी। प्रियंवद ने अपनी गोद से वीणा को उतार कर नीचे रख दिया–

वीणा को धीरे से नीचे रख, ढँक–मानो
गोदी में सोये शिशु को पालने डालकर मुग्धा माँ
हट जाय, दृष्टि से दुलराती–
उठ खड़ा हुआ।[10]

राजा के कृतज्ञता–भाव को देखकर केशकम्बली ने साफ कर दिया कि वीणा को बजाकर उसने किसी प्रकार का चमत्कार नहीं किया है, और न ही इसके लिए उसे कोई विशेष परिश्रम करना पड़ा है। वीणा से जो स्वर–संगीत फूटा है, वह समूची सृष्टि में मौनभाव से व्याप्त है। उस महामौन परमशक्ति को न तो विभाजित किया जा सकता है और न ही उसका थाह लगाया जा सकता है। वह तो सर्वथा अप्रमेय है–

श्रेय नहीं कुछ मेरा,
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में–
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था–
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था,
वह तो सब कुछ की तथता थी–
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सब में गाता है।[11]

यहाँ केशकम्बली का कथन है कि अभी–अभी असाध्यवीणा से जो स्वर फूटे थे, वे न तो उससे और न ही वीणा से निकले थे। वे स्वर तो उस महाशून्य और महामौन के स्वर थे जो अखिल विश्व में अनश्वर संगीत का सृजन करता है। यहाँ सबसे

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रियंवद की साधना अपने 'स्व' को तिरोहित कर उसे महाशून्य में समर्पित कर देने की साधना है। इसी साधना से उसे असाध्यवीणा को साधने में सिद्धि प्राप्ति हुई है। आलोचक नामवर सिंह ने कविता में व्यक्त अज्ञेय की 'मौन व्यंजना' को अद्वैतवादी दर्शन से जोड़कर देखा है। 'कविता के नये प्रतिमान' में वे लिखते हैं–''असाध्यवीणा के विन्यास पर दृष्टिपात करें तो वह दो स्थिर बिंदुओं के बीच फैलायी हुई रचना प्रतीत होती है। आदि में मौन और अंत में मौन और दोनों ही स्थिर एवं पूर्ण निर्धारित। किंतु मौन उभयनिष्ठ है। वह अद्वैत है। जिस प्रकार 'कामायनी का आरंभ और अंत दोनों हिमालय में होता है उसी प्रकार 'असाध्यवीणा' का भी आदि–अंत दोनों मौन में होता है।''[12] स्पष्ट है कि नामवरजी को 'असाध्यवीणा' की मौन–व्यंजना तो पसंद है, किंतु इसकी भाषा को वे रीतिवादी कहकर इसकी आलोचना करते दिखायी देते हैं।

श्रेष्ठ सर्जना के क्षणों में भी साहित्यकार को इसी प्रकार की आत्मशोधन और आत्मदान की साधना से गुजरना पड़ता है। प्रसिद्ध आलोचक डॉ. बच्चन सिंह 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' में लिखते हैं–''असाध्यवीणा साहित्य–साधना की संकेतक है। प्रियंवद की तरह इसकी साधना में आत्मशोध (आत्मान्वेषण) करना पड़ता है, अहं का विसर्जन करना पड़ता है, शब्द से और अशब्द की ओर जाना पड़ता है। लोग इस झंकृति को अपने–अपने ढंग से लेते हैं, अर्थात् कविता में अर्थ की अनेक परतें होती हैं। अन्यत्र विसर्जन में द्वैत बना रहता है किंतु यहाँ विसर्जन की पूर्णता है–अद्वैत है। कलाकृति के रूप में यह महत्त्वपूर्ण रचना है। आधुनिकतावादी रचना। इतिहास से कटी हुई।''[13] प्रसिद्ध आलोचक विजयमोहन सिंह ने 'असाध्य्वीणा' को रचना–प्रक्रिया को साधने की खोज, महामौन को साधने की साधना तथा मौन से मौन तक की यात्रा की कविता कहा है।

समग्रतः सार्थक कला–सृजन के लिए कलाकार का आत्मशोधन परम आवश्यक है। अज्ञेय ने एक निबंध लिखा था जिसका शीर्षक था 'अहं का विलयन'। इसमें उन्होंने कविता को 'अहं के विलयन का साधन' तथा 'स्वस्थ व्यक्ति की आनंद–साधना' माना है। ध्यातव्य है कि कवि द्वारा काव्य–सृजन की साधना और केशकम्बली द्वारा असाध्यवीणा की साधना, इन दोनों प्रक्रियाओं में क्रमशः कवि और साधक को अपने अहं के विलयन की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। अहं का विलयन और संपूर्ण समर्पण दोनों ही स्थितियाँ लगभग एक ही हैं, जिसके पूरा होने पर ही वीणा के संधान की साधना पूर्ण होती है। रचनाकार के संपूर्ण समर्पण की अवस्था में ही श्रेष्ठ रचना अस्तित्व में आती है। 'असाध्यवीणा' के प्रियंवद की साधना–प्रक्रिया दरअसल प्रत्येक नवसृजन की मूल प्रक्रिया है। इस कविता में सर्जना की समस्या और चुनौतियों को अज्ञेय ने निहितार्थ के रूप में प्रस्तुत किया है। कविता की अंतिम पंक्तियों में कवि अपने पाठक से सीधे संवाद करता है–'युग पलट गया/प्रिय पाठक ! यों मेरी वाणी भी मौन हुई।' इस प्रकार आत्मान्वेषण की साधना वस्तुतः जीवनरूपी साधना भी है जो कवि को युग–परिवर्तन के गहन अनुभव तक ले जाती है।

सन्दर्भ :–

1. अज्ञेय, ऑगन के पार द्वार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, चतुर्थ संस्करण–1971, पृष्ठ–68।
2. वही, पृष्ठ–67।
3. वही, पृष्ठ–68।
4. वही, पृष्ठ–69।
5. वही, पृष्ठ–71।
6. वही, पृष्ठ–76।
7. वही, पृष्ठ–76।
8. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2011, पृष्ठ–197।
9. अज्ञेय, ऑगन के पार द्वार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, चतुर्थ संस्करण–1971, पृष्ठ–75।
10. वही, पृष्ठ–78।
11. वही, पृष्ठ–78।
12. नामवर सिंह, कविता के नये प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990, पृष्ठ–112।
13. बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2017, पृष्ठ–427।

❐❐❐